



अध्याय १८

मोक्ष योग

अर्जुन उवाच ।
संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशनिषूदन ॥ १८-१ ॥

अर्जुन ने कहा - हे महाबाहो, हे हृषीकेश, हे केशव, मैं संन्यास और त्याग का वास्तविक अर्थ और साथ ही उनके बीच के अंतर को समझना चाहता हूँ।

श्रीभगवानुवाच ।
काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ १८-२ ॥

भगवान् श्री कृष्ण ने उत्तर दिया - जो बुद्धिमान होते हैं उन्हें यह अनुभूति (ज्ञान) होती है कि संन्यास का अर्थ है, अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए किए जानेवाले कर्मों का त्याग करना। जबकि त्याग का तात्पर्य है सभी कर्मों का त्याग करना।

~ अनुवृत्ति ~

भगवद्गीता का अंतिम अध्याय संन्यास और त्याग के प्रश्न से शुरू होता है। श्री कृष्ण का कहना है कि संन्यास का अर्थ है किसी के द्वारा निजी लाभ के लिए किये जाने वाले कर्मों का त्याग करना और त्याग का अर्थ है सभी कर्मों का त्याग। जो संन्यास की अवस्था में होते हैं उन्हें संन्यासी कहा जाता है। संन्यासी होने का अर्थ है संपूर्ण सत्य, परम हित, श्रीकृष्ण के लिए कार्य करना। एक संन्यासी सभी प्रकार के कार्यों को करते हैं, लेकिन केवल भक्ति-योग में, श्री कृष्ण की सेवा में।

भक्ति-योग समुदाय की सामाजिक संरचना को चार आध्यात्मिक वर्गों में विभाजित किया गया है - ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। इन सभी को वैदिक साहित्य का अध्ययन करना होता है। इसके अतिरिक्त, उनके कर्तव्य निम्नानुसार हैं - ब्रह्मचारी वे छात्र हैं जिनका कर्तव्य आध्यात्मिक गुरु की सेवा और ब्रह्मचर्य का पालन करना है। गृहस्थ वे गृहस्वामी होते हैं जिनका कर्तव्य ईमानदारी से जीवनयापन करने के लिए धन कमाना, दान देना और बच्चों की परवारिश करना होता है। वानप्रस्थ वे हैं, जिन्होंने गृहस्थ जीवन की जिम्मेदारियों को पूरा कर लिया है और जिनके कर्तव्य हैं अपने धन-सम्पत्ति का त्याग करना, तीर्थ यात्रा करना और वैराग्य की ओर अग्रसर होना। भक्ति-योग समुदाय में संन्यासी आध्यात्मिक गुरु होते हैं और वे ब्रह्मचारियों, गृहस्थों और

श्रीमद्भगवद्गीता

वानप्रस्थों को शिक्षा प्रदान करते हैं, सांसारिक सुख का त्याग करते हैं, राजनीति से विरक्त होते हैं, एवं सदैव काया, मन, वचन, तथा अपनी आत्मा के संपूर्ण समर्पण से भक्ति-योग में लीन होते हैं। आगे के श्लोकों में संन्यास और त्याग पर और भी व्याख्या की गई है।

त्यज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्यज्यमिति चापरे ॥ १८-३ ॥

कुछ विद्वानों का दावा है कि सभी कर्मों को त्याग देना चाहिए क्योंकि वे स्वाभाविक रूप से ही दोष-युक्त होते हैं। दूसरों का कहना है कि यज्ञ, दान और तपस्या जैसे कर्मों का कभी त्याग नहीं करना चाहिए।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तिः ॥ १८-४ ॥

हे भरत वंश के श्रेष्ठ, हे पुरुषव्याघ्र, तीन प्रकार के त्याग के विषय पर मेरा निष्कर्ष सुनो।

यज्ञदानतपःकर्म न त्यज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ १८-५ ॥

तीन प्रकार के त्याग - यज्ञ, दान और तपस्या को कभी भी छोड़ना नहीं चाहिए। यज्ञ, दान और तपस्या मनीषियों को भी शुद्ध करती हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्तवा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ १८-६ ॥

फिर भी, हे पार्थ, इन कर्मों को भी फल की इच्छा के बिना ही किया जाना चाहिए। इस विषय पर निःसन्देह यही मेरा अंतिम निर्णय है।

~ अनुवृत्ति ~

भारत में दार्शनिकों और आध्यात्मिक साधकों का एक वर्ग है जिनका मानना है कि यह संसार मिथ्या है, इसलिए यदि कोई मानव जीवन में पूर्णता (सिद्धि) प्राप्त करना चाहता है तो उसे सभी प्रकार के कर्मों का त्याग कर देना चाहिए - लेकिन भगवद्गीता में श्री कृष्ण का निष्कर्ष यह नहीं है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि

व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करना चाहिए और त्याग, दान और तपस्या जैसे लाभकारी कार्यों को कभी नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि वे मनीषियों की भी शुद्धीकरण करते हैं।

नियतस्य तु सन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तिः ॥ १८-७ ॥

किसी के लिए भी अपने निर्धारित कर्तव्यों का त्याग करना अनुचित है। मोह के कारण अपने कर्तव्यों का त्याग करना तमोगुण की स्थिति कहलाती है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्षेशभयात्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ १८-८ ॥

जो लोग निर्धारित कर्तव्यों को इसलिए त्याग देते हैं कि वे कठिन हैं, या इस डर से कि वे शारीरिक रूप से अत्याधिक मेहनत के कार्य हैं, ऐसे लोग रजोगुण की स्थिति के त्याग में संलग्न हैं। ऐसे लोग सच्ची विरक्ति का लाभ कभी प्राप्त नहीं करते।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सञ्ज्ञं त्यक्त्या फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ १८-९ ॥

हे अर्जुन, जब निर्धारित कर्मों को प्रतिफल की इच्छा का त्याग करके, केवल कर्तव्य समझ कर निभाया जाता है, तो ऐसे त्याग को सत्त्वगुण में माना जाता है।

न द्वेष्टकुशलं कर्म कुशले नानुष्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १८-१० ॥

बुद्धिमान त्यागी, जो सत्त्वगुण की स्थिति में तल्लीन रहता है, जिसने अपनी सभी शंकाओं को निरस्त कर दिया है, ना तो वह कठिन कर्तव्यों को नापसंद करता है और न ही सुखद कर्तव्यों से लगाव रखता है।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्मण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ १८-११ ॥

देहबद्ध जीवों के लिए अपने सभी कर्मों का त्याग करना असंभव है। जबकी, जो अपने कर्मों के फलों की इच्छा का त्याग करते हैं वे सच्चे त्यागी कहलाते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

यदि कोई भ्रम के कारण अपने कर्मों को छोड़ देता है की वे कठिन हैं, शारीरिक रूप से कष्टदायक हैं, या अपने आलस्य के कारण, तो ऐसा त्याग मिथ्या है और यह तमोगुण या रजोगुण में माना जाता है। देहबद्ध जीव कभी भी कर्मों का त्याग नहीं कर सकते। प्राचीन काल के साथ हमारे समय में भी ऐसे कई उद्हारण हैं, जिन्होंने सब कुछ त्याग दिया और इस दुनिया से बचने के लिए हिमालय या रेगिस्तान चले गए, लेकिन अपनी विषयासक्ति के कारण या परोपकारी कार्य करने के लिए फिर से सांसारिक जीवन जीने के लिए लौट आ जब कोई अपने कर्मों के फलों की आसक्ति को त्याग देता है और एक विरक्त हृदय के साथ कर्म करता है - यह स्मरण करते हुए की श्री कृष्ण ही एकमात्र आनंद के भोक्ता हैं, और हर चीज के मालिक हैं - तो ऐसा व्यक्ति सच्चा त्यागी या संन्यासी होता है। अतएव, एक त्यागी का या संन्यासी का त्याग, एक ही होता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १८-१२ ॥

जो लोग त्याग को स्वीकार नहीं करते हैं वे मृत्यु के बाद तीन प्रकार के फल को प्राप्त करते हैं - अच्छे, बुरे और मिश्रित। परन्तु सच्चे संन्यासी ऐसे परिणाम कभी नहीं पाते।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
साञ्चे कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १८-१३ ॥

हे माहाबाहो अर्जुन, वेदान्त में वर्णित सभी कार्यों को पूरा करने वाले पाँच कारकों को मुझसे सीखो।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्केष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १८-१४ ॥

आधार (शरीर), क्रियाओं का कर्ता (मिथ्या अहंकार), साधन (इन्द्रियाँ), विभिन्न प्रकार के प्रयास, और परम पुरुष - ये पाँच कारक हैं जो सभी कर्मों को सम्पन्न करते हैं।

शरीरवाञ्चनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १८-१५ ॥

ये पाँच कारक, अच्छे और बुरे दोनों ही कर्मों के स्रोत हैं, जिनका देहबद्ध जीव इस संसार में अनुभव करते हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १८-१६ ॥

फिर भी, एक मूर्ख व्यक्ति जो केवल स्वयं को ही कर्ता मानता है, वह अल्प बुद्धि के कारण इस विषय को नहीं समझ सकता।

यस्य नाहङ्क्तो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १८-१७ ॥

जो मिथ्या अहंकार से रहित है और जिनका मन विरक्त है - वे भले ही इस युद्ध के मैदान पर सभी का संहार कर दे, तब भी वास्तव में वे संहारक नहीं होंगे और वे अपने कर्मों के बंधन में नहीं बंधते।

~ अनुवृत्ति ~

अर्जुन एक क्षत्रिय हैं, एक योद्धा हैं, और वे दो महान सेनाओं के बीच कुरुक्षेत्र के युद्ध के मैदान में श्री कृष्ण के साथ खड़े हैं। दोनों ओर मित्रों और संबंधियों को देखकर, अर्जुन ने शुरू में युद्ध न करने का संकल्प किया, और अपने शास्त्रों को छोड़ कर अपने कर्तव्यों को त्याग देने का निर्णय लिया। यहां भगवान् श्री कृष्ण हमारा ध्यान युद्ध के मैदान में वापस लाते हैं, जब वे यह कहते हैं, हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते - जो इस युद्ध में वध करते हैं वास्तव में वे न मारते हैं और न ही वे कर्मों के बंधन में बंधते हैं।

यदि अर्जुन एक योद्धा के रूप में अपने कर्तव्य को छोड़ देतो हैं, तो निश्चित रूप से अपने कर्तव्य से पलायन करने के करण, वे अपनी कर्मों की प्रतिक्रिया का पात्र होंगे। जबकि वास्तव में अर्जुन किसी की भी “हत्या”(वध) नहीं कर सकते क्योंकि युद्ध के लिए पहले से व्यूहों में तैयार जीवित प्राणी, परम पुरष भगवान् के शाश्वत अंश हैं और इस तरह वे नित्य हैं। आत्मा को कभी भी मारा नहीं जा सकता। अंततः, अर्जुन अपने कर्तव्यों का निर्वाह करके अपने कर्मों की किसी भी प्रतिक्रिया का पात्र नहीं बन सकते।

यदि कोई अपने निर्धारित कर्तव्यों को टाल जाता है और उन्हें भय, मोह आदि के कारण छोड़ देता है, तो वह कर्मों की प्रतिक्रिया को अपने पर आमंत्रित करता है और इस जीवन में या अगले जीवन में उसे दुःख भुगतना पड़ता है। इसलिए, कृष्ण चाहते हैं कि अर्जुन अपने हृदय की कमजोरियों से ऊपर उठे और अपना कर्तव्य निभाएं।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तैति त्रिविधः कर्मसङ्ख्रहः ॥ १८-१८ ॥

ज्ञान, ज्ञान का उद्देश्य और ज्ञाता, ये तीन तत्त्व हैं जो कर्म करने के लिए उत्तेजित करते हैं। इंद्रियाँ, कर्म और कर्ता - ये कर्मों के तीन संघटक हैं।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसङ्घाने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १८-१९ ॥

सांख्य ग्रंथों के अनुसार, ज्ञान, कर्म और कर्म के कर्ता को प्रकृति के गुणों के अनुसार तीन तरह से वर्गीकृत किया गया हैं। अब तुम उनके बारे में सुनो।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ १८-२० ॥

वह ज्ञान जिससे अनन्त रूपों में विभक्त सारे जीवों में एक अविभक्त अविनाशी तत्त्व देखा जाता है, उस ज्ञान को सात्त्विक समझा जाता है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ १८-२१ ॥

जबकि, वह ज्ञान जिसके द्वारा विभिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवों को देखा जाता है, उसे राजसिक ज्ञान कहा जाता है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १८-२२ ॥

और वह ज्ञान जिसके द्वारा व्यक्ति एक ही प्रकार के कार्य में आसक्ति रखता है, जिसमें कोई सत्य नहीं होता और जो तुच्छ लक्ष्य पर आधारित होता है, उस ज्ञान को तामसिक समझा जाता है।

~ अनुवृत्ति ~

जैसा कि पहले समझाया गया है, ज्ञान का अर्थ है - पदार्थ और चेतना के बीच के अंतर को समझना। जिनका ज्ञान शुद्ध और दोषरहित है, वे व्यक्तिगत चेतना (आत्मा) को अविभक्त परम चेतना के अनन्य अंश के रूप में देखते हैं, जो सभी जीवों में उपस्थित हैं, और जन्म जन्मांतर से एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानांतरण करते हैं। दूसरे शब्दों में, एक जीवन में हाथी या बाघ के शरीर में उपस्थित आत्मा अगले जीवन में एक मनुष्य के शरीर में हो सकती है। मनुष्य की आत्मा से विभिन्न प्रकार की कोई हाथी, बाघ, या किसी पशु की आत्मा नहीं होती। जो यह कहता है कि एक पशु या एक मानव या एक देवता की आत्मा भिन्न प्रकार की होती है, उसका ज्ञान रजोगुण से प्रभावित होता है।

जिस व्यक्ति को आत्मा की कोई समझ नहीं है, जिसे अपने शरीर से लगाव है, शरीर की क्रियाओं से लगाव है, जो आर्थिक विकास या विषय वस्तु के भोग हेतु तुच्छ कार्यों में लिप्त रहता है, उसके ज्ञान को तमोगुण में कहा जाता है।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ १८-२३ ॥

आसक्ति एवं द्वेष से रहित, फल की इच्छा किए बिना विनियमित कर्मों को सत्त्वगुण में कहा जाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ १८-२४ ॥

अहमभाव से, लाभ की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले अथक परिश्रम के कार्यों को रजोगुण में कहा जाता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ १८-२५ ॥

परिणाम, नुकसान, क्षति, या व्यक्तिगत क्षमता पर विचार किए बिना, मोह के कारण किए जानेवाले कार्यों को तमोगुण में कहा जाता है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्धसिद्धोर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ १८-२६ ॥

जो मनुष्य आसक्ति एवं अहंभाव से रहित होकर कार्य करते हैं, जो सहनशील, उत्साहपूर्ण, और लाभ या नुकसान से अप्रभावित हैं, उन्हें सात्त्विक माना जाता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तिः ॥ १८-२७ ॥

जो मनुष्य अपने कर्मों के परिणामों का आनंद लेने के लिए कार्य करने की इच्छा रखते हैं, लालची होते हैं, स्वभाव से हिंसक होते हैं, सुख एवं दुःख से प्रभावित होते हैं, उन्हें राजसिक माना जाता है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैकृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ १८-२८ ॥

जो मनुष्य अपने कर्मों को अनुशासनहीन तरीके से करते हैं, जो अशिष्ट, जिद्दी, बेईमान, अपमानजनक, आलसी, बुरे स्वभाव वाले और शिथिलक होते हैं, उन्हें तामसिक माना जाता है।

~ अनुवृत्ति ~

यहाँ, सात्त्विक, राजसिक और तामसिक कर्मों का वर्णन किया गया है। आज जब कोई कर्मों के गुणों को और उनकी विभिन्न विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए इस संसार को देखता है, तो कोई आश्र्य नहीं होता कि आज पृथ्वी पर युद्ध, महँगाई, निराशा, आर्थिक मंदी, भ्रम और नकारातमक स्थिति है।

जब लोग अपने अत्याधिक अहमभाव का प्रयोग करने में व्यस्त हैं, और अपने साथी मनुष्यों और पशुओं के प्रति अनैतिक और हिंसक रूप से बर्ताव करते हैं, तो हम इस संसार में कैसे किसी सुधार की उम्मीद कर सकते हैं? शांति कैसे प्राप्त हो सकती है?

इसलिए, सभी समझदार व्यक्ति का यह कर्तव्य बनता है की वह सात्त्विक भाव में ज्ञान का अर्जन एवं कर्म करे जो आसक्ति रहित हो, द्वेष मुक्त हो और जो कामना एवं अहमभाव से मुक्त हो। जीवन एक विज्ञान है और श्री कृष्ण कहते हैं कि हम अपने कार्यों के माध्यम से अपने अच्छे या बुरे कर्मों के फलों को भुगतते हैं।

बुद्धर्मेदं धृतेश्वैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ १८-२९ ॥

हे धनंजय, ध्यान से सुनों, अब मैं तुम्हें प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार विभिन्न मनोवृत्तियां एवं संकल्पों की व्याख्या देता हूँ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्यकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ १८-३० ॥

हे पार्थ, सत्त्वगुण में मनोवृत्ति ऐसी है जो यह भेद कर सके कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, क्या कर्तव्य है और क्या नहीं, किसका भय करना चाहिये और किसका नहीं, एवं भौतिक बंधन तथा मुक्ति के स्वभाव में अंतर क्या है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ १८-३१ ॥

हे पार्थ, राजसिक प्रवृत्ति वह है जिसमें मनुष्य धर्म और अधर्म के बीच भेद नहीं कर सकता है, उचित और अनुचित के अंतर को नहीं समझ सकता, और यह तय नहीं कर पाता की उसका कर्तव्य क्या है और क्या उसका कर्तव्य नहीं है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थाविपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ १८-३२ ॥

हे पार्थ, तामसिक मनोवृत्ति वह है जिसमें मनुष्य अधर्म को धर्म मानता है एवं धर्म को अधर्म मानता है। वह सब कुछ यथार्थ के विपरीत समझता है।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ १८-३३ ॥

हे पार्थ, वह संकल्प, जिसके द्वारा मनुष्य सख्ती से मन, प्राण-वायु और इंद्रियों को योग की प्रक्रिया के माध्यम से नियंत्रित करता है वह सात्त्विक भाव में होता है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ १८-३४ ॥

हे पार्थ, वह संकल्प जिसमें व्यक्ति धन अर्जित करने और भौतिक इच्छाओं को पूरा करने के लिए धर्मनिष्ठता बनाए रखता है, वह राजसिक भाव में होता है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुच्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थं तामसी ॥ १८-३५ ॥

हे पार्थ, उन लोगों के संकल्प जो नींद, भय, शोक, विषाद और अभिमान को नियंत्रित नहीं कर सकते वे तामसिक भाव में होते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

सर्वत्र, भगवद्गीता के दौरान, श्री कृष्ण अर्जुन को पार्थ (कुंती के पुत्र) कहकर संबोधित करते हैं। कृष्ण ने उन्हें भारत (भरत वंशज), पांडव (पांडु के पुत्र), कुरुनंदन (कुरु वंशज), परंतप (शत्रु विजयी), गुडाकेश (निद्रा विजयी) और धनंजय (धन के विजेता) कहकर भी संबोधित किया। कृष्ण अर्जुन को इस तरह संबोधित इसलिए करते हैं ताकि उन्हें स्मरण हो कि वे एक क्षत्रिय वंश के महान योद्धा हैं, और इस तरह वे खड़े होकर युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित हो।

कभी-कभी युद्ध आवश्यक हो सकता है जब युद्ध का कारण उचित हो, लेकिन समस्या इसी में है, कि कौन यह कह सकता है कि कौन सा कारण उचित है, कौन सही है और कौन गलत है, क्या किया जाना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? उपरोक्त छंदों में, कृष्ण कुछ संकेत देते हैं कि कौन सी मनोवृत्ति एवं संकल्प उचित है। स्पष्ट रूप से, जो रजोगुण और तमोगुण में होते हैं वे सदा भूल में रहते हैं - वे अंतर नहीं कर पाते कि क्या सही है और क्या गलत है, क्या करना है और क्या नहीं करना है, या क्या उचित कर्तव्य है और क्या कर्तव्य की उपेक्षा है।

सुखं त्विदानी त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ १८-३६ ॥
यत्तदने विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ १८-३७ ॥

हे भरत वंश के सर्वश्रेष्ठ, अब मुझसे तीन प्रकार के सुख के बारे में जानो। वह सुख जिसके द्वारा सभी दुखों का अंत होता है सत्त्वगुण में हैं। ऐसा सुख आरंभ में विष के समान होता है, परन्तु अंत में वह अमृत के समान होता है क्योंकि वह व्यक्ति में आत्म साक्षात्कार जागृत करता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ १८-३८ ॥

वह सुख जो इंद्रियों और विषय-वस्तुओं के बीच के संपर्क से उत्पन्न होता है, जो आरंभ में अमृत की तरह होता है, लेकिन अंत में विष बन जाता है, ऐसे सुख को रजोगुण में कहा जाता है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १८-३९ ॥

वह सुख जो नींद, आलस्य और ऋग्रम से उत्पन्न होता है और आरंभ व अंत दोनों में ही आत्मा-भ्रामक होता है, वह सुख तमोगुण में होता है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्रिभिर्गुणैः ॥ १८-४० ॥

पृथ्वी पर या देवताओं में भी कोई ऐसा प्राणी नहीं है, जो भौतिक प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त है।

~ अनुवृत्ति ~

इस भौतिक संसार में सब लोग और सब कुछ भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के अधीन होते हैं। सही मायने में कोई व्यक्ति तब तक स्वतंत्र या आज्ञाद् नहीं है जब तक वह भौतिक प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त न हो। राजनीतिक स्वतंत्रता के नाम पर ऐसे सभी उत्सव केवल आत्मवंचना का एक और रूप हैं। आज्ञादी का सवाल ही कहाँ है जब हमारी हर क्रिया प्रकृति द्वारा नियंत्रित होती है और हमें जीवन के उस पथ पर धकेल दिया जाता है जहाँ अंत में केवल मृत्यु का सामना करना पड़ता है?

भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से केवल उन्हीं को स्वतंत्रता प्राप्त होती है जिन्होंने एक सच्चे गुरु (सद्गुरु) का आश्रय लिया है, जिन्होंने भगवद्गीता के ज्ञान को समझा है और स्वयं को भक्ति-योग में प्रयुक्त किया है। वास्तव में केवल भक्ति-योगी ही स्वतंत्रता या आज्ञादी की खुशी मना सकते हैं।

श्री कृष्ण कहते हैं कि सत्तवगुण में सुख शुरू में कड़वा होता है, लेकिन अंत में अमृत के समान होता है। इसका यह अर्थ है की नये साधकों के लिए शुरुआत

श्रीमद्भगवद्गीता

में इंद्रियों को नियंत्रित करना और तपस्या करना अरुचिकर हो सकता है, लेकिन अंत में ऐसी तपस्याएं आत्म साक्षात्कार के अमृत की ओर ले जाती हैं।

रजोगुण में इंद्रियों के भोग से प्राप्त होने वाला सुख शुरुआत में अमृत की तरह हो सकता है, लेकिन अंत में यह कङ्गवा होता है, क्योंकि इंद्रियों का भोग अंतः निराशा, घृणा और क्रोध में समाप्त होता है। तमोगुण में प्राप्त होने वाला सुख जो नींद, आलस्य और भ्रम से उत्पन्न होता वह आत्मवंचना है, क्योंकि यह शुरुआत में और अंत दोनों में ही दुःखदायी होता है।

मनुष्य को वास्तविक आनंद केवल तब मिलता है जब उसे अपने नित्य स्वरूप की जागरूकता प्राप्त होती है, और वह अपने शरीर, मन एवं इन्द्रियों को उच्च चेतना में तल्लीन करके जीवन यापन करता है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ १८-४१ ॥

हे शत्रु विजयी, हे अर्जुन, जानो कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को भौतिक प्रकृति के तीन गुणों में उनके कर्मों के लक्षणों के अनुसार वर्गीकृत किया गया है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ १८-४२ ॥

शांति, आत्म-नियंत्रण, तपस्या, स्वच्छता, दयाशीलता, सत्यता, ज्ञान, प्रज्ञता और भगवान् में श्रद्धा - ये सब एक ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ १८-४३ ॥

वीरता, तेज, दृढ़ता, निपुणता, युद्ध से कभी पलायन न करना, दान देना और सामाजिक प्रशासन - ये एक क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ १८-४४ ॥

खेती, गौ-रक्षा और व्यवसाय एक वैश्या के स्वाभाविक कर्म हैं। तथा अन्य वर्गों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।

~ अनुवृत्ति ~

यहाँ ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों की सामाजिक स्थिति उनके कर्मों के गुणों के अनुसार वर्णित है। ये जीवन की चार सामाजिक व्यवस्थाएं हैं और ये संसार की सभी सभ्य संस्कृतियों में उपस्थित हैं। हर जगह हमें वे लोग मिलते हैं जो बुद्धिजीवी वर्ग - ब्राह्मणों के सदृश हैं। हर जगह वे मिलते हैं जो क्षत्रियों यानि प्रशासकों और योद्धाओं के सदृश हैं, हर जगह हमें व्यापारी और श्रमिक वर्ग, वैश्य और शूद्र भी मिलते हैं। यह समाज का स्वाभाविक विभाजन हैं और यह उनके कर्मों के लक्षणों से निर्धारित होते हैं।

दुर्भाग्यवश, आधुनिक भारत में, श्रीकृष्ण द्वारा भगवद्गीता में वर्णित यह सामाजिक प्रणाली भ्रष्ट हो चूकी है और अब यह जाति व्यवस्था के रूप में जानी जाती है जो जन्म के आधार पर एक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को निर्धारित करती है। जाति-व्यवस्था दरअसल भगवद्गीता में वर्णित सामाजिक व्यवस्था नहीं है जिसे वर्णाश्रम-धर्म के नाम से जाना जाता है।

भारत में जाति व्यवस्था निश्चित रूप से शोचनीय है, यह लगभग गुलामी ही है, क्योंकि यह व्यक्ति की क्षमता को उसके जन्म के आधार पर सीमित कर देती है। भगवान् श्री कृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि एक व्यक्ति को उसके कर्मों से जानना चाहिए न की उसके वंश से।

यद्यपि दुनिया भर में बुद्धिजीवी, प्रशासक, व्यापारी और श्रमिक वर्ग वाले सामाजिक पद्धति पाई जाती हैं, लेकिन वे फिर भी भगवद्गीता में वर्णित वर्णाश्रम व्यवस्था के समान नहीं हैं। एक बुद्धिजीवी होने के अलावा, एक ब्राह्मण को यह पता होना चाहिए कि ब्रह्मन (ब्रह्म-ज्योति) क्या होता है।

एक क्षत्रिय के केवल प्रशासन और युद्ध के अलावा अन्य कर्तव्य भी होते हैं - उसे भ्रष्टता से ऊपर होना चाहिए, लोगों को सुरक्षा देनी चाहिए और भगवद्गीता में पाए गए धर्म के सिद्धांतों की रक्षा करनी चाहिए। और सबसे बढ़कर, एक क्षत्रिय को कभी भी आक्रामक नहीं होना चाहिए - उसे कभी भी एक संप्रभु देश पर आक्रमण नहीं करना चाहिए।

वैश्य का कर्तव्य, व्यवसाय के अलावा, खेती और गौ-रक्षा है। स्वाभाविक रूप से व्यापार का उद्देश्य जीविका के लिए उपार्जन करना है, लेकिन आज यह

भगवद्गीता की सलाह के अनुसार वास्तविक आवश्यकता से बहुत आगे निकल चुकी है। सरल व्यवसाय बड़े पैमाने पर उद्योग में बदल गई है - वृहद् बहु-राष्ट्रीय कंपनियों की स्थापना, धन की जमाखोरी और आंशिक बैंकिंग (Fractional Banking)। यह सब आज दुनिया भर में सरकारी अधिकारियों को भ्रष्टाचार की ओर ले जाती है और अंततः इसके द्वारा पर्यावरण का विनाश, गरीबी में वृद्धि और युद्ध होते हैं।

गौ-रक्षा (कृषि-गोरक्ष्या) का उल्लेख विशेष रूप से श्लोक ४४ में किया गया है क्योंकि सभी पशुओं में से गाय ही है जो मनुष्य के अस्तित्व के लिए सबसे आवश्यक पशु है। मानव शरीर पशु के वसा पर फलता-फूलता है और गाय वह पशु है जो मनुष्य को सबसे अधिक दूध, दही, मक्खन, पनीर इत्यादि प्रदान करती है। दूध और दूध के उत्पाद, जब उपयुक्त मात्रा में लिए जाते हैं, तो यह मनुष्य के स्वस्थ जीवन के लिए सभी आवश्यक वसा प्रदान करते हैं, इस प्रकार पशु-वध रोका जाता है। दूसरे शब्दों में, पशुओं को मारना और वसा प्राप्त करने के लिए उनका मांस खाना आवश्यक नहीं है। जब गायों की रक्षा होती है, तब सभी के लिए पर्याप्त मात्रा में स्वस्थ आहार के लिए दूध उपलब्ध होता है। मानव समाज के लिए गाय का मूल्य निर्विवाद है और इसलिए वैदिक संस्कृति में गाय को सात प्राकृतिक माताओं में से एक माना जाता है। ये सात माताएँ इस प्रकार हैं:

आत्म-माता गुरोःपति ब्राह्मणी राज-पतिका ।
धेनुर्धात्री तथा पृथ्वी सप्तैता मातरः स्मृताः ॥

अपनी माता, गुरु की पत्नी, एक ब्राह्मण की पत्नी, राजा की पत्नी, गाय, धात्री और पृथ्वी - इन सातों को हमारी माताएँ मानी जानी चाहिए। (चाणक्य नीति-शास्त्र ५.२३)

दुर्भाग्यवश, व्यवसाय समुदाय के लोग, स्वास्थ्य और समृद्धि के नाम आज कॉर्पोरेट खेती और गायों एवं अन्य पशुओं के सामूहिक-वध के व्यवसाय में लग गए हैं। वास्तव में, लोगों ने अपनी भूमि खो दी है और परिवार के खेत जो कभी समाजों की रीढ़ होती थी, आज कही भी उपस्थित नहीं हैं। औद्योगिक खेती ने जैविक उर्वरकों को रासायनिक उर्वरकों के साथ बदल दिया है, जो मिट्टी को बेजान बनाते हैं और ऐसे आहार का उत्पादन करते हैं जो पौष्टिकता में कम

और विषाक्त सामग्री में उच्च होते हैं। वधशाला से निकला मांस भी विषाक्त होता है एवं शाकाहारी भोजन की तुलना में बहुत कम स्वस्थ होता है।

दुनिया भर में समाज, वैश्यों के लौटने के लिए रो रहे हैं, लेकिन सरकारें बहरों और अंधों की तरह कान और आँख मूँदकर बैठे हैं, और खाद्य श्रृंखला के सबसे आखिर में आनेवाले शूद्र, मजदूर वर्ग इस परिस्थिति से सबसे ज्यादा पीड़ित हैं। परन्तु, परिवर्तन दूर नहीं, क्योंकि दुनिया भर में लोग अब अपने इस बुरे सपने से जाग रहे हैं जो उनकी असलीयत बन चुकी है, और अब वे इन समस्याओं के उचित समाधानों को खोज रहे हैं। ऐसे ईमानदार व्यक्तियों के लिए, भगवद्गीता अंतर्दृष्टि और मार्गदर्शन प्रदान करता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ १८-४५ ॥

अब मुझसे उनके बारे में जानो, जो अपने निर्धारित कर्मों का पालन करते हैं वे कैसे परम सिद्धि प्राप्त करते हैं।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ १८-४६ ॥

मनुष्य अपने निर्धारित कर्मों का पालन करते हुए, उस परमेश्वर की उपासना से परम सिद्धि प्राप्त करते हैं, जिनसे सभी चीजें उत्पन्न होती हैं और जो सर्वभूत हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नामोति किल्बिषम् ॥ १८-४७ ॥

किसी दूसरे के कर्तव्यों (धर्मों) को पूर्ण रूप में निभाने से बेहतर है की स्वयं के कर्तव्यों को अपूर्ण रूप से ही निभाया जाए। जब व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार अपने निर्धारित कर्मों को करता है तब वह पाप का दोषी नहीं होता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ १८-४८ ॥

हे कुंतीपुत्र, अपने निर्धारित कर्मों का कभी त्याग नहीं करना चाहिए। सभी कर्म किसी न किसी दोष से आवरित रहते हैं जैसे कि अग्नि धुएं से आवरित होता है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ १८-४९ ॥

भौतिक वस्तुओं में अनासक्ति, भौतिक सुखों की अवहेलना, अपने निर्धारित कर्मों को करना एवं इसके फलों की चिंता से मुक्त रहने से संन्यास की उत्तम अवस्था प्राप्त होती है।

~ अनुवृत्ति ~

उपर्युक्त श्लोकों में, श्री कृष्ण अर्जुन से इस बात पर बल देते हैं कि किसी को भी वर्ण-व्यवस्था के अनुसार अपने निर्धारित कर्मों (धर्मों) को कभी छोड़ना नहीं चाहिए। कोई ऐसे सोच सकता है कि वह अपने कर्मों को पूरी तरह से नहीं निभा रहा, लेकिन कृष्ण कहते हैं कि व्यक्ति को अपने कर्मों पर दृढ़ रहना चाहिए और उसका त्याग नहीं करना चाहिए। भगवद्गीता के शुरुआत में, अर्जुन ने अपने क्षत्रिय धर्म को छोड़ने की इच्छा व्यक्त की। अर्जुन युद्ध करने से विमुख हो गया और सोच रहा था कि बेहतर होगा की वह हल चलाये (खेती करे) या संन्यासी बन जाये, लेकिन कृष्ण इससे सहमत नहीं थे। अब श्री कृष्ण और अर्जुन के बीच बातचीत समाप्त हो रही है, और हम जल्द ही देखेंगे कि कृष्ण ने अर्जुन को सजीव कर दिया है और अब अर्जुन पूर्ण हृदय और उत्साह के साथ अपने कर्तव्य को फिर आरंभ करेंगे।

सिद्धि प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्रोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ १८-५० ॥

हे कुंतीपुत्र, मुझसे यह जानो कि, उस तरह के आचरण से, जिसे मैं तुम्हें संक्षेप मे वर्णन करने वाला हूँ, व्यक्ति कैसे परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

बुद्धा विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यत्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ १८-५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्षायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ १८-५२ ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १८-५३ ॥

शुद्ध बुद्धिमत्ता के साथ, मन को दृढ़ निश्चय से सयंमित रखना, इंद्रिय-वस्तुओं के प्रति आसक्ति को त्यागना, आसक्ति और धृणा दोनों से रहित होना, एकांत स्थान पर रहना, अल्प भोजन करना, वाणी, शरीर और मन को वश में रखना, भगवान् के निरंतर ध्यान में संलग्न रहना, वैराग्य, अहंकार, शक्ति के दुरुपयोग, दंभ, वासना, क्रोध, लोभ से मुक्त और निःस्वार्थ एवं शांतिपूर्ण होना - ऐसा व्यक्ति परम सिद्धि की प्राप्ति के योग्य है।

**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ १८-५४ ॥**

जब ऐसे आत्म-संतुष्ट व्यक्ति को पूर्ण सत्य की अनुभूति होती है, तब वह न आनन्दित होता है न विलाप करता है। सभी प्राणियों को समान भाव से देखते हुए वह मेरे प्रति पारलौकिक भक्ति को प्राप्त कर लेता है।

**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ १८-५५ ॥**

ऐसी भक्ति के माध्यम से वह व्यक्ति सत्य रूप में मुझे जानता है। इस प्रकार, मुझे सत्य रूप में जानकर वह मेरे परम धाम में प्रवेश करता है।

**सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मव्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ १८-५६ ॥**

हालाँकि व्यक्ति विभिन्न कर्मों में लगातार संलग्न रह सकता है, फिर भी मेरी कृपा से, जो मेरा आश्रय लेता है, वह मेरे शाश्वत निवास पहुँच जाता है।

**चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ १८-५७ ॥**

सचेत रूप से अपने सभी कर्मों को मेरे प्रति अर्पण करते हुए, मुझे अपना सर्वोच्च लक्ष्य मानते हुए, और भक्ति-योग (बुद्धि-योग) का आश्रय लेते हुए, सदैव मेरा मनन करो।

**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनक्ष्यसि ॥ १८-५८ ॥**

श्रीमद्भगवद्गीता

यदि तुम मेरा चिन्तन करते हो तो मेरी कृपा से तुम्हारे सारे कष्ट दूर हो जाएंगे।
लेकिन, अपने इूठे अहंकार से यदि तुम मुझे अनदेखा करते हो, तो तुम्हारा
नाश हो जायेगा।

यद्हङ्कारमाश्रित्य न योत्प्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ १८-५९ ॥

यदि इूठे अहंकार के कारण तुम यह सोचते हो, “मैं युद्ध नहीं करूँगा,” तो
तुम्हारा निर्णय व्यर्थ होगा क्योंकि तुम्हारा स्वभाव ही तुम्हे युद्ध करने पर विवश
करेगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ १८-६० ॥

अपने आन्तरिक स्वभाव से बंधे होने के कारण, तुम जिन कर्तव्यों को करने से
मना कर रहे, हे कुंतीपुत्र, वे अनिवार्य रूप से तुम्हारे द्वारा ही किए जाएंगे।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृदेशोऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ १८-६१ ॥

हे अर्जुन, परमेश्वर सभी के हृदयों में निवास करते हैं। अपनी मायावी शक्ति
द्वारा उनके सभी कार्यों को वे (परमेश्वर) ही निर्देशित करते हैं, जैसे कि उन्हें
कोई मशीन (यंत्र) पर लगाया गया हो।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ १८-६२ ॥

हे भारत, अपने पूर्ण हृदय से उनमें शरण लो, और उनकी कृपा से तुम शाश्वत
शांति एवं उनका सर्वोच्च निवास प्राप्त करोगे।

~ अनुवृत्ति ~

श्री कृष्ण अब अर्जुन से यह कहते हुए प्रोत्साहित करते हैं कि उनके निर्देशों का
पालन करने से अर्जुन को परम-सत्य साकार होगा और वह उनके परम धाम
में प्रवेश करेगा। अपने सभी कर्मों के परिणामों को सचेत रूप से श्री कृष्ण पर

अपर्ण कर, स्वयं को श्री कृष्ण पर समर्पित कर, और सदैव श्री कृष्ण का मनन करते हुए, अर्जुन सर्व सिद्धि प्राप्त करेंगे।

दूसरा विकल्प, कृष्ण कहते हैं, कि उनके निर्देशों की उपेक्षा करके, निश्चित रूप से अर्जुन का नाश होगा। यह भगवद्गीता का खुला रहस्य है - जो इसके ज्ञान (संदेश) का पालन करता है, वह सभी भौतिक दोषों से मुक्त हो जाता है और परम पुरुष श्री कृष्ण द्वारा मुक्ति प्राप्त करता है, यानि की वह पूर्ण ज्ञान और आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है। कृष्ण के निर्देशों की अवहेलना करना आत्महत्या के समान है और कृष्ण अर्जुन को चेतावनी देते हैं कि यदि वह यह मार्ग अपनाता है तो वह निश्चित रूप से भ्रम, माया और मृत्यु की दुनिया में नष्ट हो जाएगा।

इति ते ज्ञानमारव्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १८-६३ ॥

मैंने अब तुम्हारे सामने उस ज्ञान को उजागर किया है जो सबसे गोपनीय है। अब तुम इस पर सोच विचार कर जो तुम्हें उचित लगे वह करो।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इषोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ १८-६४ ॥

एक बार फिर से यह सबसे गूढ़ रहस्य को सुनो, मेरे सर्वोच्च निर्देश को सुनो। क्योंकि तुम मुझे अत्यंत प्रिय हो, इसलिए मैं तुम्हारे परम हित के लिए तुम्हें यह बता रहा हूँ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्वसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ १८-६५ ॥

अपने मन को मुझमें स्थित करो, स्वयं को मुझ पर समर्पित करो, मेरी पूजा करो और मुझे नमस्कार करो। ऐसा करने से तुम निश्चित रूप से मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें इसका वचन देता हूँ क्योंकि तुम मुझे बहुत प्रिय हो।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ १८-६६ ॥

सभी प्रकार के धर्मों का परित्याग कर दो - अपने आप को केवल मुझ पर समर्पित करो! डरो मत, क्योंकि निश्चित रूप से मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त करूँगा।

~ अनुवृत्ति ~

श्लोक ६३ में श्रीकृष्ण कहते हैं कि उन्होंने अर्जुन को सबसे गोपनीय ज्ञान बताया है और वे अर्जुन को उस पर विचार कर अपनी इच्छानुसार करने लिए कहते हैं। लेकिन, क्योंकि अर्जुन श्रीकृष्ण को अत्यंत प्रिय है और क्योंकि श्रीकृष्ण अर्जुन के गुरु और शुभचिंतक हैं, श्रीकृष्ण फिर से उन्हें एक अंतिम निर्देश और आश्वासन देते हैं।

श्री कृष्ण का अर्जुन के लिए अंतिम निर्देश यह है कि वह अपने मन को उन पर स्थिथ करे, स्वयं को उन पर समर्पित करे, उनकी पूजा करे एवं उनको सादर नमस्कार करे। यही कृष्ण भावनामृत (भक्ति) का सार है। कृष्ण कहते हैं कि ऐसा करने से अर्जुन निश्चित रूप से उनके पास पहुंचेंगे। अतः सर्वोपरि निर्देश यही है की सदैव कृष्ण का मनन करना चाहिए। पद्म-पुराण में भी यही कहा गया है -

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ॥

श्रीकृष्ण (विष्णु) को सदा याद करना चाहिए और कभी भी उन्हें भूलना नहीं चाहिए। शास्त्र में वर्णित सभी विधी-निषेध, इन्हीं दो सिद्धांतों के अधीन होने चाहिए। (पद्म-पुराण ६.११.१००)

श्लोक ६६ में हम भगवद्गीता के चरमोत्कर्ष को देखते हैं, जिसमें कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पण करने का परम धर्म बताया गया है। श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि उनके निर्देशों का पालन करने के लिए सबकुछ छोड़ देना चाहिए और इसमें भय का कोई कारण नहीं होना चाहिए क्योंकि कृष्ण उनकी रक्षा करेंगे। इस तरह के आत्म-समर्पण से अर्जुन कृष्ण के परम धाम को प्राप्त करेंगे।

भगवान् का परम धाम भौतिक ब्रह्मांड से परे है और जो प्रज्ञ हैं वे उसे वैकुण्ठ के नाम से जानते हैं। जो लोग विष्णु के अवतारों को या नारायण के रूपों की पूजा करते हैं, वे वैकुण्ठ धाम को प्राप्त करते हैं। लेकिन वैकुण्ठ से ज्यादा श्रेष्ठ हैं कृष्ण

के अवतारों के क्षेत्र जैसे कि अयोध्या में श्री रामचंद्र और द्वारका में वासुदेव कृष्ण का धाम। जो लोग श्री रामचंद्र एवं कृष्ण के विस्तारक रूप में वासुदेव की उपासना करते हैं, वे क्रमशः अयोध्या, द्वारका और मथुरा प्राप्त करते हैं।

द्वारका से उच्चतर मथुरा है। मथुरा से श्रेष्ठ वृद्धावन है। गोवर्धन, वृद्धावन से श्रेष्ठ है और राधा-कुण्ड, गोवर्धन से श्रेष्ठ है। जो लोग मानव-रूपी कृष्ण की उपासना करते हैं, जिन्हें श्यामसुंदर (गोविन्दा) कहा जाता है, केवल वे परम धाम प्राप्त करते हैं।

वैकुण्ठाज्जनितो वरा मधुपुरी तत्रापि रासोत्सवाद् ।
वृन्दारण्यमुदारपाणिरमणात् तत्रापि गोवर्धनः ॥
राधाकुण्डमिहापि गोकुलपते प्रेमामृताप्नावनात् ।
कुर्यादस्य विराजतो गिरितटे सेवां विवेकी न कः ॥

क्योंकि श्री कृष्ण वहाँ अवतरित हुए, आध्यात्मिक रूप से मथुरा वैकुंठ से श्रेष्ठ माना जाता है। मथुरा से अधिक श्रेष्ठ वृद्धावन के कानन हैं क्योंकि यही वह जगह थी जहाँ पर श्री कृष्ण ने रास-लीला की थी। गोवर्धन पर्वत को वृद्धावन से ज्यादा श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि कृष्ण ने वहाँ पर अद्भुत लीलाएं की थी और अपने बाएं हाथ से गोवर्धन पर्वत को उठाया था। परन्तु, राधा-कुण्ड गोवर्धन से भी श्रेष्ठ है क्योंकि यह गोकुल के स्वामी (श्री कृष्ण) के दिव्य प्रेम के अमृत से ओत-प्रोत है। कौन सा बुद्धिमान व्यक्ति गोवर्धन के चरणों में स्थित इस स्थान की सेवा नहीं करेगा? (उपदेशामृत ९)

कृष्ण का परम निवास ब्रज भूमि है, जिसमें वृद्धावन, गोवर्धन और राधा-कुण्ड शामिल हैं। श्लोक ६६ में श्री कृष्ण ने ‘ब्रज’ को क्रियापद के रूप में प्रयोग कया है जिसका अर्थ है “जाना”, जिसके द्वारा वे अर्जुन को यह संकेत देते हैं कि अर्जुन आध्यात्मिक जगत के परम धाम में कृष्ण के पास आएँगे। यह श्रेष्ठ धाम गोलोक वृद्धावन के नाम से भी जाना जाता है और ब्रह्म-संहिता में इसका ऐसे वर्णन किया गया है:

चिन्तामणिप्रकरसद्भसु कल्पवृक्ष ।
लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम् ॥
लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम् ।
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

गोविन्दजी जो आदि पुरुष हैं, मैं उनकी उपासना करता हूँ, जो गायों का पालन कर रहे हैं, उस दिव्य क्षेत्र में जहां निवास स्थान पारस पत्थर के बने हैं। वे असंख्य कल्पवृक्षों से घिरे हैं और सैकड़ों हजारों लक्ष्मी देवियों द्वारा बहुत ध्यान और उत्साह से लगातार सेवित हैं। (ब्रह्म-संहिता ५.२९)

वेणुं कणन्तमरविन्ददलायताक्षम् ।
बहौवतं समसिताम्बुद्सुन्दराङ्गम् ॥
कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभं ।
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥

गोविन्दजी जो आदि पुरुष हैं, मैं उनकी पूजा करता हूँ, जो अपनी बांसुरी बजा रहे हैं और उनकी आँखें कमल की पंखुड़ियों जैसी सुंदर हैं। उनका सिर मोर के पंखों से सुसज्जित है, और उनका आकर्षक रूप, जो वर्षा के बादलों की आभा से सराबोर है, वह इतना मनोहर है कि वह लाखों कामदेवों को मोहित कर देता है। (ब्रह्म-संहिता ५.३०)

आलोलचन्द्रकलसद्वन्मात्यवंशी ।
रत्नाङ्गदं प्रणयकेलिकलाविलासम् ॥
श्यामं त्रिभङ्गलसितं नियतप्रकाशं ।
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

गोविन्दजी जो आदि पुरुष हैं, मैं उनकी उपासना करता हूँ, जिनका गला वन के फूलों की माला से सुशोभित है, जो झूलती रहती है। उनके हाथ, जो उनकी बांसुरी को पकड़े हैं, वे रत्नों से अलंकृत कंगनों से सुसज्जित हैं। श्यामसुंदर के रूप में तीन स्थानों पर बांका हुआ उनका दिव्य रूप नित्य प्रकट है जैसे वे दिव्य प्रेम के अपने विभिन्न लिलाओं का आनंद लेते हैं। (ब्रह्म-संहिता ५.३१)

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन ।
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोक्य निति ॥
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं ।
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

गोविन्दजी जो आदि पुरुष हैं मैं उनकी पूजा करता हूँ, जिनका ध्यान सदैव वे करते हैं जिनकी आँखें दिव्य प्रेम के लेप से अभ्यंजित होती हैं। श्यामसुन्दर

के रूप में उनका शाश्वत रूप अनंत गुणों से संपन्न है और वे सदा अपने प्रिय भक्तों के हृदयों में वास करते हैं। (ब्रह्म-संहिता ५.३८)

श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरषः कल्पतरखो ।
द्रुमाभूमिश्चिन्तामणिगणमयि तोयममृतम् ॥
कथागानं नाट्यं गमनमपिवंशी प्रियसखि ।
चिदानन्दं ज्योतिः परमपितदास्वाद्यमपि च ॥

मैं श्वेतद्वीप के दिव्य धाम की पूजा करता हूँ, जहां लक्ष्मी देवियां परम पुरुष श्री कृष्ण की प्रिय सहचारियां हैं। उस स्थान पर, हर एक वृक्ष कल्पवृक्ष है; भूमि पारस पत्थर से बनी है; सारा पानी अमृत है; हर शब्द गीत है; हर कदम नृत्य है; बांसुरी सबसे प्रिय मित्र है; प्रकाश आध्यात्मिक आनंद से भरा है और सभी चीजें अत्यंत सम्मोहक हैं; जहां लाखों गायों से दूध का विशाल महासागर लगातार बहता रहता है; जहाँ समय आधे क्षण के लिए भी नहीं बीतता है। उस धाम, गोलोक वृद्धावन को केवल कुछ ही आत्मसिद्ध योगी जानते हैं। (ब्रह्म-संहिता ५.५६)

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
नचाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ १८-६७ ॥

यह ज्ञान उन लोगों को कभी नहीं बताना चाहिए जो आत्म-संयमित नहीं हैं, जो भक्ति-योग का पालन नहीं करते हैं या जो मुझसे ईर्ष्या करते हैं।

य इदं परमं गुह्यं मद्दक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ १८-६८ ॥

जो मनुष्य दूसरों को भक्ति-योग का सर्वोच्च रहस्य सिखाता है, वह भक्ति के उच्चतम स्थान को प्राप्त कर लेता है और मेरी पूर्ण चेतना प्राप्त करता है। इसमें कोई संदेह नहीं।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ १८-६९ ॥

ऐसे भक्त से बढ़कर मेरे लिए जगत में और कोई प्रिय नहीं है। और न ही कभी कोई मुझे उतना प्रिय होगा जितना कि वह जो इस सर्वोच्च रहस्य को दुसरों को सिखता है।

श्रीमद्भगवद्गीता

अध्येष्यते च य इमंधनं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्जेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ १८-७० ॥

जो लोग हमारे इस पावन वार्तालाप का अध्ययन करते हैं वे मुझे ज्ञान यज्ञ के माध्यम से पूजते हैं। यह मेरा निष्कर्ष है।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ १८-७१ ॥

जो लोग इस पावन वार्तालाप को उत्कृष्ट श्रद्धा और बिना किसी ईर्ष्या के साथ सुनते हैं वे परम सिद्धि प्राप्त कर मरे पवित्र धाम पहुंचेंगे।

~ अनुवृत्ति ~

यहाँ, श्री कृष्ण कहते हैं कि जो लोग ईर्ष्यालु हैं उन्हें परम-सत्य का विज्ञान नहीं सिखाया जा सकता है। जबकि, जो व्यक्ति दृढ़ता से कृष्ण भावनामृत के साथ, कृष्ण और अर्जुन के बीच इस पवित्र वार्तालाप का अध्ययन करते हैं और जो इस ज्ञान को ईर्ष्या रहित व्यक्तियों को बताते हैं, वे कृष्ण के प्रिय हैं और वे परम सिद्धि को प्राप्त कर कृष्ण के परम धाम पहुंचेंगे। इसकी पुष्टि गीता-महात्म्य और वैष्णवीय-तंत्र-सार के निम्नलिखित छंदों में की गई है -

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥

जो भगवद्गीता का पाठ दृढ़ भक्ति से करता है, जिससे सब पुण्य प्राप्त होता है, वह विष्णु / कृष्ण का परम धाम प्राप्त करता है, जो भय और विलाप पर आधारित इस सांसारिक गुणों से परे स्थित है। (गीता-महात्म्य १)

संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो नरः ।
गीतानावं समासाद्य पारं यातिसुखेनसः ॥

एक व्यक्ति जो भौतिक पीड़ा के इस भयानक सागर को पार करने की इच्छा रखता है, वह भगवद्गीता की नाव का आश्रय लेकर इसे आसानी से पार कर सकता है। (वैष्णवीय-तंत्र-सार, गीता-महात्म्य ७)

शालग्राम-शिलायां वा देवागारे शिवालये ।
तीर्थेनद्यां पठेगी सौभाग्यं लभतेध्युवम् ॥

जो व्यक्ति भगवदीता का पाठ श्रीमूर्ति या शालग्राम-शिला की उपस्थिति में, परम भगवान् के मंदिर में, या शिवजी के मंदिर में, तीर्थ स्थान में या पवित्र नदी के तट पर करता है - ऐसा व्यक्ति सभी शुभ सौभाग्य प्राप्त करने के योग्य हो जाता है। (वैष्णवीय तंत्र-सार, गीता-महात्म्य २१)

एतान्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः ।
श्रद्धया यः श्रणोत्येव परमां गतिमाप्नुयात् ॥

श्रद्धावान् व्यक्ति, जो गीता का अध्ययन और महिमा गान करता है, निश्चित रूप से वह भगवान् के परम धाम को प्राप्त करता है। (वैष्णवीय-तंत्र-सार, गीता-महात्म्य ८४)

कच्छिदेतच्छ्रुतं पार्थं त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्छिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥ १८-७२ ॥

हे पार्थ, हे धनञ्जय, क्या तुमने इसे अविक्त ध्यान से सुना? क्या तुम्हारी अज्ञानता और भ्रम नष्ट हर्ई?

अर्जुन उवाच । नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ १८-७३ ॥

अर्जुन ने उत्तर दिया - हे अच्युत, हे कृष्ण, आपके अनुग्रह से मेरा भ्रम दूर हो गया है और मेरा मानसिक संतुलन स्थापित हो गया है। अब जब मेरा संदेह दूर हो गया है मैं पुनः स्थिर हो गया हूँ और अब मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

सञ्जय उवाच । इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ १८-७४ ॥

संजय ने कहा - इस प्रकार मैंने वासुदेव और महान् अर्जुन के बीच हुए इस वार्तालाप को सुना, जो इतना अद्भुत है कि मेरे रोंगटे खड़े हो गए।

तद्बृह्महं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ १८-७५ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

व्यासदेव की कृपा से, स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा कथित मैंने योग के परम गोपनीय रहस्य को सुना।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममङ्गुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ १८-७६ ॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यङ्गुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ १८-७७ ॥

हे राजन, केशव श्रीकृष्ण और अर्जुन के मध्य हुई इस प्रगाढ़ वार्तालाप को बारम्बार स्मरण करके मैं बार बार हर्षित हो रहा हूँ। जब मैं भगवान् श्री कृष्ण के अङ्गुत रूप का स्मरण करत हूँ तब मैं विस्मित हो जाता हूँ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीविजयो भूतिधुंवा नीतिमतिर्मम ॥ १८-७८ ॥

जहाँ योगेश्वर श्री कृष्ण हैं और पराक्रमी धनुर्धर अर्जुन हैं, वहाँ सदा समृद्धि, विजय, ऐश्वर्य और धार्मिकता रहेगी - यह मेरा दृढ़ विश्वास है।

~ अनुवृत्ति ~

श्रीकृष्ण और अर्जुन के मध्य हुई अलौकिक वार्तालाप श्लोक ७३ में समाप्त हो जाती है जब अर्जुन यह कहते हैं की उनका भ्रम और संदेह सब दूर हो चुका है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के निर्देशों का पालन करने के लिए अर्जुन तैयार हो जाते हैं। यह गुरु और शिष्य के बीच का आदर्श संबंध है। गुरु को भगवद्गीता में मिले श्रीकृष्ण के इस उपदेशों को बिना किसी परिवर्तन या मिलावट के पहुंचाकर अपने शिष्य के भ्रम और संदेह को दूर करना चाहिए, और शिष्य को ऐसे निर्देशों का पालन करने के लिए निश्चित रूप से तैयार होना चाहिए। श्रीकृष्ण के संदेशों की श्रवण-क्रिया में जो शक्ति है, उसकी पुष्टि श्रीमङ्गवतम् में भी की गई है -

शृणवतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम् ॥

श्री कृष्ण धर्मपरायण के मित्र हैं। वे उन लोगों के हृदय से सभी अशुभता को हटा देते हैं जिन्होंने उनके संदेश सुनने की इच्छा व्यक्त की है, जिसका उचित रूप में श्रवण और जप पुण्यात्मक होता है। (श्रीमद्भगवतम् १.२.१७)

संजय, श्री कृष्ण और अर्जुन के मध्य के वार्तालाप को सम्राट् धृतराष्ट्र को सुना रहे थे और अब वे अपनी तृप्ति और हर्ष को व्यक्त करते हैं। वह कहते हैं कि श्री कृष्ण के शब्दों को स्मरण करके और उनके सुंदर रूप को देखते, उन्हें परमानंद और विस्मय का अनुभव होता है। संजय फिर अपनी मंगल कमनाओं के साथ समापन करते हैं कि जहां योगेश्वर श्री कृष्ण हैं और जहां उनके निषावान शिष्य अर्जुन हैं, वहाँ सदैव समृद्धि, विजय, ऐश्वर्य और धार्मिकता रहेगी। यहां पर श्रीमद्भगवद्गीता की अनुवृत्ति समाप्त होती है।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
मोक्षयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् - अतः व्यास विरचित शतसहस्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए मोक्ष योग नामक अठारहवें अध्याय की यहां पर समाप्ति होती है।

। इति श्रीमद्भगवद्गीता संपूर्णम् ।
अतः श्रीमद्भगवद्गीता समाप्त होता है ।

